

स्वानुभूति की ओर : अन्तर्यात्रा

□ श्री सोहनराज कोठारी,

[जिला एवं सत्र न्यायाधीश, जयपुर (राजस्थान)]

अध्यात्म जगत् में हमारे समग्र व्यक्तित्व की सर्वांग साधना की चरम निष्पत्ति की सर्वमान्य एवं सुगम परिभाषा है—‘स्वानुभूति’ और जिस प्रक्रिया से निकलकर व्यक्ति को स्वयं की अनुभूति का साक्षात्कार एवं मिलन होता है उसे आध्यात्मिक भाषा में ‘योग’ कहा जाता है—इस योग की प्रक्रिया के लिये विभिन्न प्रकार के प्राणायाम, योग-आसन, ध्यान-मुद्रा आदि अनेक श्रम-साध्य क्रियाएँ अपनी-अपनी रुचि के अनुसार व्यक्ति एवं व्यक्तियों के कई सामूहिक संस्थान अपनाते हैं। चेतना की अनुभूति या स्वयं का बोध, इसमें मेरी बहुत वर्षों से रुचि रही है, पर श्रम-साध्य प्रयोगों में मैं कभी रस नहीं ले पाया, क्योंकि इस विषय पर गहराई से चिन्तन के बाद मेरा अपना चिन्तन यह है कि सम-विषम परिस्थितियों में, मध्यस्थ भाव में रहकर बिना श्रम के यदि हम सारी शक्तियों को गहनतापूर्वक प्रतिक्षण सहजता से अपनी चेतना की ओर या दूसरे शब्दों में स्वयं की खोज में, अतल गहराई की ओर उन्मुख कर सकें, तो हमारी चेतना से मिलन की महायात्रा का प्रारम्भ हो जाती है और निश्चित ही हम चेतना की ओर बढ़ जाते हैं। बाहर के सारे अपने कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी प्रतिपल हमारा चिन्तन यह बन जाना चाहिये कि हम कोई ऐसा कार्य न करें, जिससे हमारी आत्मा क्लुषित या मलिन हो जाय, या हमारे विचार, वाणी व प्रवृत्ति का कोई भी अंश, हमारी अन्तर्चेतना को मूर्च्छित कर दे, या हमारी सजगता या सचेतना जड़ता या सुषुप्ति से आच्छादित हो जाय। बाहर की गंगा या जमना धाराप्रवाह बहती रहे, उसमें कोई आपत्ति नहीं है, पर अन्दर की सरस्वती का अजस्र प्रवाह भी सूख नहीं जाय, इस बात का भी पूरा ध्यान रहे और तभी हमारे शरीर, मन और आत्मा के त्रिवेणी संगम का योग हमारी जीवात्मा को अक्षुण्ण पावन तीर्थस्थली बना सकता है। बाहर के सारे कोलाहल के मध्य भी अन्तर्ध्वनि का नाद प्रतिपल गूँजता रहे, वस्तुओं की रट लगाते रहने पर भी, अन्दर का निःशब्द ‘अजपा जाप’ सतत रूप से चलता रहे, पौद्गलिक पदार्थों से प्राप्त संगीत, नृत्य, सुवासना, दृश्य, रस के साथ-साथ प्राणों का संगीत—स्वासों का नृत्य, रोम-रोम में चेतना की छवि, कण-कण में जीवन रस व भावों की सुगन्ध में, हमारी आत्मा अहर्निश प्रतिष्ठापित रहे, तभी हमारी साधना पलवती हो सक्ती है और हम अपनी अनुभूति करने में सफल हो सकते हैं।

आवश्यक यह है कि सहजता की दिशा में, हमारा ध्यान पूर्णतया व्यापक बन जाए, तन और चेतना जो कि अलग-अलग विरोधी तत्त्व हैं, उन्हें हम तटस्थ एवं साक्षी भाव से अलग-अलग स्वरूप में, दर्शन कर सकें और हमारे शरीर व मन की संवेदना हमारी आत्मा को प्रभावित न कर सके, तभी हम स्वयं को जान सकते हैं, व हमारा स्वयं से मिलन हो सकता है। सन्त भीखणजी ने इसी व्यापक ध्यान के स्वरूप को बहुत ही सहज शब्दों में भाव गाम्भीर्यता प्रकट करते हुए राजस्थानी भाषा में निम्नलिखित छोटे से पद में परिलक्षित किया है—

जे समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।

अन्तर् मन न्यारा रहे, ज्यों धाय रमावे बाल ॥

वस्तुतः हमारी सारी चिन्तना, गति, प्रवृत्ति, हर समय, रात और दिन, प्रत्येक घड़ी और पल, सोते-जागते, उठते-बैठते, इसी प्रकार की बन जाय कि जो हम दिख रहे हैं, और कह रहे हैं, वह अपना नहीं है और जो अपनापन अन्तर्निहित है, वो हमारे इन सारे बाह्य कार्यों से प्रभावित न हो, उसकी जड़ता हमारे चेतना को आच्छादित या मलीन न कर दे, महात्मा कबीर के शब्दों में हमारी आत्मा की झीनी चद्दर मली न हो जाय और स्वच्छ रहे पर इस चिन्तना के लिये यह आवश्यक है कि हम अपने मन, वचन एवं शरीर की सारी गतिविधियों को एक समतल पर समस्वर में रखें। जो हम सोचें, वैसा ही करें और जैसा कहें वैसा ही करें, और तभी हमारा द्वैतभाव दूर हो सकेगा और हमको अपनी जानकारी प्राप्त करने में सुगमता रहेगी। मन में विचार कुछ और चल रहे हों और वाणी में विचार उसे अन्यथा प्रकट हों और शरीर में हमारी सारी गतिविधियाँ मन व वाणी के विपरीत चले, तब हमको अपने नानाविध मुखौटे पहनने के लिये विषमताओं एवं विसंगतियों का सहारा लेना पड़ता है और इसी जोड़-तोड़ की उधेड़बुन में, यह सारा जीवन बीत जाता है, हमारी जटिलताएँ निरन्तर बढ़ती जाती हैं, और उसमें जीवन के आनन्द का स्रोत सूख ही नहीं जाता बल्कि उसमें अमृतत्व का शोषण होकर, केवल वासना एवं आसक्ति की चड़ ही हमारे हाथ लगती है, जिसमें से बाहर निकलने के हर प्रयास के साथ हम उसके दल-दल में फँसते ही जाते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि हम सरलता, सहजता या ऋजुता की ओर बढ़ें। मन के विचार, वाणी के उद्गार व शरीर का व्यवहार, सारे एक से बन जाय और हम स्फटिक की तरह बन जाएँ व भीतर व बाहर एक से स्वरूप में, हमारा बाह्य व्यवहार व अन्तर् का आकार स्पष्ट हो जाय—इसी में स्वानुभूति प्रकट होती है।

चेतना की अन्तर् यात्रा में, हमारे सामने पहला विकट अवरोध स्वयं हमारा मन है। मन की कल्पनाएँ, आशा-आकांक्षाएँ, तृष्णा-वासनाएँ, अनन्त विचारों के माध्यम से, हमको अपने बारे में सोचने का अवकाश ही नहीं लेने देती, हमारे मस्तिष्क में अनगिन वस्तुओं की स्मृति के अम्बार भरे पड़े हैं। इतिहास, भूगोल, साहित्य, कला, विज्ञान आदि अनेक विषयों के बारे में, हमारी सूक्ष्म से सूक्ष्म जानकारी करने की अनवरत चेष्टा तो जीवन भर चलती ही रहती है और जो वस्तुएँ, वर्तमान में नहीं हैं, उन्हें प्राप्त करने व उनकी महत्वाकांक्षा रखने, एवं उनके स्वप्न संजोने में, हमारे जीवन का प्रत्येक क्षण शीघ्रता से बीत जाता है और हम कभी भी एक क्षण रुक जायें तो लगता है कि हम न तो कहीं पहुँच पाये हैं और न कुछ बन ही पाये हैं। विचारों की इस सघन भीड़ को पार करना असंभव नहीं तो दुरूह कार्य अवश्य है। अन्तर् यात्रा में इस पहले अवरोध को पार करना मुश्किल हो जाता है व व्यक्ति विचारों के जबरदस्त हमले से आक्रान्त होकर, अपनी हार मान लेता है और मन से आगे बढ़ने का साहस नहीं कर पाता। इसलिये स्वानुभूति की ओर चरण बढ़ाने में, हमको पहले निर्विचार बनने का अभ्यास करना पड़ेगा। यह तो असंभव है कि जब तक मन है, तब तक कोई विचार ही न आए, और यह भी हमारे अपने साथ ही निर्ममता होगी कि हम अपना दमन कर, बलात् अपने विचारों को रोकें और विचारों के अतिशय वेग—प्रवाह को एक स्थान पर रोकने के प्रयास की तीव्र प्रतिक्रिया भी हो सकती है जिसका परिणाम और भी भयंकर हो सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि जैसे-जैसे हमारे मन में संकल्प-विकल्प जगते रहें, वैसे-वैसे उनको उनके आदिश्रोत की ओर प्रतिक्रमण करते रहें और अपने मन को उनसे खाली करते रहें, ताकि खाली मन में अपनी अनुभूति की चिन्तना उस खाली स्थान को घेर कर, व्यापक बन सके। अतः स्वानुभूति की ओर बढ़ते चरणों को सर्वप्रथम घनीभूत विचारों के आक्रमणकारी कोलाहल करती भीड़ को पार कर निर्विचारिता की तरफ बढ़ना आवश्यक होगा।

अन्तर्यात्रा की दिशा में जब विचारों की गहन आतंतायी भीड़ को पार करने में हम समर्थ हो जाते हैं, तब हमारे सामने अतीत की स्मृतियों की जकड़न एवं भविष्य की आकांक्षाओं का गुस्त्वाकर्षण, हमको आगे व पीछे खींचता हुआ, परिवर्तनशील समय की घाटियों में ला पटकता है, जिसे बाहर निकलना हमारे लिए आसान नहीं हो पाता। विश्व की हर जड़ वस्तु में लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई होती है पर उसमें अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि अस्तित्व के लिए समय का होना आवश्यक है और समय ही चेतना की दिशा है। जगत् की सारी ही वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं, परिवर्तनशील हैं, पर



समय शाश्वत है, जो सदा था, और सदा रहेगा और उसकी धाराओं में सब चीजें बनेंगी व मिटेंगी, पर समय की धारा अविच्छिन्न रहेगी। संभवतः इसलिये आत्मा या चेतना का एक नाम 'समय' भी दिया गया है, जो उसके शाश्वत, सनातन, अनादि, अनन्त, तत्त्व होने का द्योतक मात्र है। हम आमतौर पर समय के तीन भाग करते हैं, अतीत, वर्तमान व भविष्य, लेकिन यह विभाजन कृत्रिम एवं गलत है, क्योंकि अतीत सिर्फ स्मृति में है और कहीं भी नहीं है, व इसी तरह भविष्य केवल कल्पना में है और कहीं नहीं है और है तो सिर्फ वर्तमान। इसलिये समय का एक ही अर्थ हो सकता है, वर्तमान ; जो है वही समय है और यह चेतना के अन्तिम खण्ड का अणु है और वो इतना सूक्ष्म है कि हम यदि प्रतिक्षण सजग न रहें तो उसका बोध होते ही वह अतीत का अंग बन जाता है और हम उस अणु से वंचित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में हमारा चित्त इतना शान्त और निर्मल बन जाए कि हम वर्तमान के छोटे से अणु की झलक पा लें और जिस क्षण हमने इसे स्थिर कर दिया कि हम अपने अस्तित्व से परिचित हो गए, समय के दर्शन के साथ ही आत्मा को उपलब्ध हो गए, उससे साक्षात्कार कर लिया। मन संग्रह है, अतीत और भविष्य का जो नहीं है और बीच की सूक्ष्म रेखा वर्तमान को पाने के लिए, शान्त चित्त होना आवश्यक है। अतः निर्विचारिता के साथ-साथ हमारी महायात्रा का अगला चरण अतीत और भविष्य की भयावही अन्धेरी, गहन घाटियों को पारकर, वर्तमान के राजमार्ग पर अवस्थित हो जाय, व समय को स्थिर कर दें, तभी हमारी यात्रा सुगम हो सकती है।

निर्विचारिता व समयातीतता या स्थिरयोग की प्राप्ति के बाद, तीसरा और सबसे भयंकर अवरोध जो हमारे सामने अन्तर् यात्रा के बीच में, मुँह बाए खड़ा रहता है, वह है अहं की चट्टान। हमारे अपने अहं से ही सारे विकारों एवं कषायों का प्रजनन होता रहता है और जब तक अहं की चट्टान को तोड़कर हम अहंशून्यता में प्रवेश नहीं कर पाते तब तक आत्मा से साक्षात्कार लगभग असम्भव हो जाता है। अहं में जहाँ अवरोध उत्पन्न होता है वहाँ क्रोध प्रकट हो जाता है, जिसका स्वाभाविक परिणाम होता है—प्रतिशोध, हिंसा, संघर्ष, युद्ध आदि जो अपनी पूरी विभीषिका में समूची मानव जाति का विनाश करने की सम्भावना रखते हैं। अहं को पोषण करने वाली वृत्ति का नाम लोभ है, जिसके धरातल पर तृष्णा की विष बेल फैलती है और माया के लुभावने किन्तु आत्मघाती फल पैदा करती है। अहं का बाह्य स्वरूप अभिमान, ममता, आसक्ति, घृणा, द्वेष में परिलक्षित होता है। लाखों-करोड़ों की सम्पदा का एक ही बार में त्याग कर देने वाले, अपने पुत्र-पुत्री एवं भरे-पूरे परिवार से अलग होने वाले व वर्षों संन्यास की साधना करने वाले, अकिंचन ऋषि-मुनि भी अहं से अपने को मुक्त नहीं कर पाते। वे भी अपने शिष्यों व धारणाओं का मोह नहीं छोड़ पाते। यश-कामनाएँ उनको भी घेरे रहती हैं। परिणाम यह होता है कि शिष्यों के संग्रह व यशलिप्सा की वृद्धि में, उनकी लोकेषणा कम नहीं हो पाती और उनके त्याग में वैभव का अनुराग ही छिपा रह जाता है और इस कारण से न तो वे अहं का पाषाण ही तोड़ पाते हैं और न आत्मा के आनन्द का निर्झर ही उनमें फूट कर प्रवाहित हो पाता है। मान-अपमान की भावना से कोई विरला ही व्यक्ति अछूता रह पाता है। बड़े-बड़े साधु-सन्त अपनी प्रशंसा व दूसरों की निन्दा में रस लेते हैं और उनकी किञ्चित् सी निन्दा उनके सामने इतर सम्प्रदाय या मत के दूसरे साधु-सन्तों की प्रशंसा से उनके चेहरे पर रोष की रेखा खिंच जाती है, तब लगता है कि अहं की चट्टान को तोड़ने में वे असमर्थ और असहाय हो गए हैं। जब तक अहं नहीं छूटता तब तक वे उस नाव की तरह भटकते रहते हैं जो लंगर से बंधी होने के कारण घण्टों पानी में घूमती फिरती है व किसी किनारे तक नहीं पहुँच पाती और एक ही परिधि में चक्कर खाती रहती है। इसलिये चेतना से मिलने की दिशा में बढ़ते चरणों को न केवल विचारों की सघन आक्रामक भीड़ चौरनी पड़ती है या अतीत व भविष्य की गहन घाटियों को ही पार करना पड़ता है बल्कि उनको अहं की चट्टान को भी विदीर्ण करना पड़ता है और तभी व्यक्ति आत्मानन्द के क्षरते-बहते निर्झर में चेतना की अनुभूति प्राप्त कर सकता है और वस्तुतः जो वह है उसमें उसका मिलन हो जाता है। अतः स्वयंसिद्धि या स्वानुभूति के उपरोक्त तीन निर्विचारिता, समयातीतता, अहंशून्यता निश्चित सोपान हैं, जिनके माध्यम से हम अपना गन्तव्य प्राप्त कर सकते हैं।

मेरा अपना अनुभव है कि व्यापक एवं सहज ध्यान की प्रक्रिया से ऋजुता या निर्मल चित्त के धरातल पर,

निर्विचारिता, समयातीतता व अहंशून्यता की ओर, हमारे चरण क्रमशः बढ़ते जायँ तो उस यात्रा की अवधि में ही हमको कुछ ऐसे छोटे-मोटे अनुभव स्वतः होते जाएँगे, जिनकी आसानी से कल्पना नहीं की जा सकती, पर जिनके लिये विशेष प्रयास करना अपेक्षित ही नहीं रहता। शान्त एवं निर्मल चित्त की साधना के अवरिक्त एवं व्यापक ध्यान की प्रक्रिया में, व्यक्ति न केवल अपने इस जन्म की घटनाओं को ही स्मृति में ला सकता है, बल्कि अपने पूर्वजन्म की घटनाओं को भी साक्षात् जान सकता है। 'जातिस्मरणज्ञान' की विश्रुत विधा हमारे निर्मल चित्त का ही सहज परिणाम है जो अन्तर् दर्शन के साथ-साथ किसी भी प्रबुद्ध व्यक्ति को सरलता से प्राप्त हो सकती है। जन्म से पूर्व के जीवन की स्मृति, हमारे वर्तमान जीवन की कई रहस्यपूर्ण गुत्थियों को सुलझाने व समझने में सहायक हो सकती है और इस अर्थ में, पूर्वजन्म-स्मृति हमारी अपनी अन्तर्यात्रा में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकती है। पूर्वजन्म की स्मृति केवल वैचारिक या बौद्धिक स्तर पर हो सकती है, यह बात निश्चित है। इसकी क्या सीमाएँ हैं और इस क्रम में कब कहाँ रुकना आवश्यक तथा अनिवार्य हो जाता है? वो इस प्रयोग में क्या? बाधाएँ क्यों आ जाती है? यह स्वयं में एक विस्तृत विवेचन का विषय है पर यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि पूर्वजन्म की स्पष्ट संस्मृति सम्भव है और इसे विशेष श्रमसाध्य उपलब्धि के रूप में या आश्चर्यपूर्ण तरीके से देखना या कहना न तो सही होगा और न उचित है।

व्यापक ध्यान की सहज प्रक्रिया में, जब हमारी यात्रा चेतना की ओर प्रारम्भ हो जाती है, तब हमारे भावों में एक अपूर्व जागरण आ जाता है और इन्द्रियों व मन से परे, हम अपने हृदय, प्राण, भावों में जिसकी चाह करते हैं, वह प्राप्त हो जाती है। यह तो निश्चित है कि अन्तर्यात्रा में चलने वाला व्यक्ति कभी पदार्थ की चाह या कामना तो रखना नहीं चाहेगा पर कभी-कभी वह विराट् चेतना की अनुभूति के अंश को साक्षात् करने की जिज्ञासा में उन महापुरुषों के (चाहे वे भगवान, तीर्थंकर, गुरु, महात्मा, किसी भी नाम से पुकारे जाते हों) दर्शन करने की इच्छा रख लेता है और जिस महापुरुष की चेतना से वह अपनी निकटता महसूस करता है, उसको देखने व उससे प्रेरणा प्राप्त करने की उसकी स्वाभाविक कामना बन जाती है। इस शुभेच्छा के परिणामस्वरूप निर्मल चित्त की आराधना करने वाला व्यक्ति अपने भावों में अपने आराध्य का दर्शन कर लेता है, और कभी-कभी तो ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमारे इष्टदेव हमारे समक्ष, मुदितमना आशीर्वाद देने की मुद्रा में, साक्षात् उपस्थित हैं और हमारी सारी दुश्चिन्ताएँ मात्र उनके दर्शन से ही दूर हो जाती हैं। मेरा तो अपना अनुभव यह है कि हमारी इच्छा मात्र से ही हमारे आराध्य देव की चेतना, अपनी दैहिक छवि में, प्रकट होकर हमारी समस्याओं का निराकरण स्वतः कर देती है। वस्तुतः वे क्षण बहुत ही सुखद एवं आह्लादपूर्ण होते हैं। बौद्धिक विश्लेषण के आधार पर तो यह अनुभव शब्दों में अभिव्यक्त करना सम्भव नहीं है, पर जिसने अपने भावों में अपने आराध्यदेव को सम्पूर्ण रूप में रमा लिया है और जिसका चित्त निस्तरंग झील की तरह बनना आरम्भ हो गया है, उसे अपने इच्छित आराध्यदेव के दर्शन निश्चितरूप से स्मरण करते ही हो सकते हैं व उसकी अन्तर्यात्रा को सुगम बना सकते हैं।

जातिस्मरण ज्ञान व भाव-दर्शन के साथ-साथ विचारों के सम्प्रेषण का कार्य भी उनके लिये सहज सुलभ हो जाता है, जो निर्मल चित्त बनाने की प्रक्रिया में अवरोधों को पार करने का संकल्प लेकर चेतना से मिलने की दिशा में चल पड़े हैं। मनोवैज्ञानिक भी इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि विचारों की तरंगें विकीर्ण कर हम दूसरों तक पहुँचा सकते हैं तो इसमें संशय करने की तो कोई गुंजाइश नहीं रह गई है कि विचारों का सम्प्रेषण सम्भव नहीं है। चेतना की ओर उन्मुख यात्री के लिये, यह प्रयोग कभी-कभी उस समय आवश्यक हो जाता है, जब वह शरीर और वाणी से निवृत्ति और निःशब्दता की तरफ बढ़ने लग जाता है और उसके मन की प्रवृत्ति ही मुक्त रहती है, तब वह अपने विचारों के माध्यम से, अपने आवश्यक कार्य कर लेता है या अन्य लोगों को प्रभावित कर या करा लेता है। अपने से गुरुतर व्यक्तियों से प्रेरणा प्राप्त करने या अपने परिपार्श्व को परिष्कृत कर शुद्ध वातावरण का निर्माण करने व इसी से अपनी यात्रा को सुलभ बनाने की दिशा में, जब-जब यह प्रयोग आवश्यक होता है, तब-तब साधक इसका सफलतापूर्वक प्रयोग लेता है, और इसके लिये उसे आश्चर्यकारी कहने की आवश्यकता नहीं है, पर इतना अवश्य सही



है कि अन्तर्यात्रा के लिये यह सहज है। उसे प्रयास नहीं करना पड़ता। हमारे आत्मार्थी संतजन विपदाग्रस्त भक्त-जनों को देखकर मनोभावों से ही व्यथा भांप लेते हैं और कभी-कभी अपने विचारों से ही व्यथा का निराकरण कर देते हैं। यह इसी निर्मल चित्त अवस्था व शुभ भावना का ही परिणाम है।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि चेतना से मिलन की जो अन्तिम निष्पत्ति है, वह केवल अनुभूतिजन्य है, शब्दातीत है व स्वयं-चेतना-निराकार व निरूपम है अतः इसे शब्दों में व्यक्त करना संभव नहीं है और जब अन्तिम निष्पत्ति शब्दों में नहीं बाँधी जा सकती, तो उसके आधारभूत मार्ग ऋजुता की ओर सहज सतत व्यापक ध्यान और निर्मल चित्त अवस्था तथा उसके बाधक एवं साधक तत्त्वों को भी शब्दों में समावेश करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है और मैं नहीं जानता कि मैंने जो कुछ अपने शब्दों में व्यक्त किया है, उसमें मेरे विचार या भावों को कितनी अभिव्यक्ति मिल सकी है, पर इतना मैं अवश्य कह सकता हूँ कि मेरे शब्द, उस दिशा, मार्ग एवं मार्ग के अवरोधों की ओर, जो व्यक्ति की अपने से साक्षात् करने की यात्रा में सन्निहित है, किञ्चित् भी संकेत सूत्र बन पाए, तो मैं इसे विरट चेतना की कृपा का ही प्रसाद समझकर अपने को सौभाग्यशाली समझूँगा।

□

